शंकराचार्य कृत

योगतारावली

[हिन्दी अनुवाद और विशद व्याख्या के साथ]

रामशंकर भट्टाचार्य

प्रकाशक

भारतीय विद्या प्रकाशन

वाराणसी दिल्ली

शंकराचार्यकृत

योगतारावली

[हिन्दी अनुवाद और विशद व्याख्या के साथ]

अनुवादक तथा व्याख्याकार

रामशंकर भट्टाचार्य

(एम. ए ; पीएच-डी॰; व्याकरणाचार्य)

Co editor : Encyclopedia of Indian Philosophies
(Vols. on Samkhya & Yoga);
Editor : Purana, All-India Kasiraj Trust.
Varanasi

प्रकाशक

भारतीय विद्या प्रकाशन

वाराणसी   दिल्ली



I.S.B.N., 81-217-0035-3
First Ed. 1987
Price Rs. 10.00

भारतीय विद्या प्रकाशन
१. पो० ब० ११०८, कचौड़ी गली, वाराणसी-२२१००१
२. १. यू० बी० जवाहर नगर, बंग्लो रोड, दिल्ली-११०००७

मुद्रक :
वाराणसी मुद्रण संस्थान
डी० ५१/६२ सूरजकुण्ड, वाराणसी

YOGATĀRĀVALĪ

with Hindi Translations & Notes and a Preface

Ram Shankar Bhattacharya

M.A.; Ph.D.; Vyakaranacharya

Co-editor : Encyclopedia of Indian Philosophies
(Vols. on Samkhya & Yoga);
Editor : Purana, All-India Kasiraj Trust,
VARANASI

BHARATIYA VIDYA PRAKASAN

VARANASI DELHI

I.S.B.N., 81-217-0035-3

First Edition, 1987

Price : Rs. 15.00

Publisher :

BHARATIYA VIDYA PRAKASHAN

Post Box 1108. Kachauri Gali, Varanasi

1. U. B. Jawahar Nagar, Bungalow Road. Delhi-110007

Printer :

VARANASI MUDRAN SANSTHAN

D. 51/92 Suraj Kund

Varanasi-(India)

प्राक्कथन

ब्रह्मानन्दं परमसुखदं केवलं ज्ञानमूर्ति
द्वन्द्वातीतं गगनसदृशं तत्त्वमस्यादिलक्ष्यम् ।
एकं नित्यं विमलमचलं सर्वधीसाक्षिभूतं
भावातीतं त्रिगुणरहितं सद्गुरुं तं नमामि ॥

राजयोग का प्रतिपादक श्लोकबद्ध योगतारावली[1]-नामक ग्रन्थ योगाभ्यासियों में अत्यन्त प्रसिद्ध रहा है। इस ग्रन्थ को शंकराचार्य द्वारा विरचित माना जाता है। यही कारण है कि विभिन्न प्रकाशकों द्वारा प्रकाशित शाङ्करग्रन्थावलियों में यह ग्रन्थ अवश्य संयोजित रहता है। पृथक् रूप से इस ग्रन्थ का प्रकाशन कदाचित् ही देखा जाता है।

यह खेद का विषय है कि प्रस्तुत ग्रन्थ में वर्णित विषय यद्यपि अत्यन्त उच्चकोटि का है तथा इसकी भाषा भी कहीं-कहीं व्याख्या की अपेक्षा रखती है, तथापि इसकी कोई प्राचीन संस्कृत टीका प्रचलित नहीं है, जबकि शंकराचार्यकृत दार्शनिक-विचार-बहुल दक्षिणामूर्ति-स्तोत्र की टीका

---

१. 'तारावली' शब्द का तात्पर्य विज्ञेय है। ताराओं की संख्या २७ हैं। यदि ग्रन्थ के मुख्य श्लोक २७ हों तो 'तारा' शब्द का प्रयोग ग्रन्थ-नाम में किया जा सकता है (१–२ गौण श्लोक भी ऐसे नामवाले ग्रन्थों में कभी-कभी रहते हैं)। तारा की तरह नक्षत्र शब्द भी प्रयुक्त होता है। 'शिवपञ्चाक्षर-नक्षत्रमाला' (शंकराचार्यकृत) में २७ श्लोक हैं (२७ मुक्ताओं से जो माला बनती है, वह नक्षत्रमाला कहलाती है, यह ज्ञातव्य है)।

उनके शिष्य सुरेश्वराचार्य ने, वेदान्तकेशरी की टीका आनन्दगिरि ने तथा निर्वाणदशक की टीका मधुसूदन सरस्वती ने लिखी है। टीका न रहने के कारण इस ग्रन्थ के कुछ वाक्यों का तात्पर्य समझने में कठिनता होती है। ग्रन्थगत श्लोकों का मुद्रित पाठ भी सर्वत्र शुद्ध प्रतीत नहीं होता। विभिन्न संस्करणों में श्लोकों के अनेक पाठान्तर दृष्ट होते हैं। अतः प्राचीन हस्त-लेखों के आधार पर इस ग्रन्थ का एक शुद्धपाठयुत संस्करण प्रस्तुत करना आवश्यक प्रतीत होता है। शुद्ध पाठों के विना अर्थनिर्धारण करना सुकर नहीं है।

इस ग्रन्थ के जो एक-दो व्याख्या-ग्रन्थ (हिन्दी-बंगला में) प्रचलित हैं, वे बहुत ही साधारण कोटि के हैं। इनमें न पाठों पर उचित विचार किया गया है और न शब्दों के विवक्षित तात्पर्य के निर्धारण के लिए उचित प्रयास किया गया है। प्रस्तुत व्याख्या में योगतारावली में प्रयुक्त शब्दों के विवक्षित अर्थों का निर्धारण योगग्रन्थों के आधार पर करने की चेष्टा की गई है तथा कौन पाठ संगत है, इस पर भी विचार किया गया है। हम समझते हैं कि हठयोगप्रदीपिका की ज्योत्स्नाटीका की तरह एक टीका इस ग्रन्थ के लिए भी आवश्यक है। कोई अभ्यासशील विद्वान् योगी यदि इस कार्य को करें तो हम सब उपकृत होंगे।

शङ्कराचार्य इस ग्रन्थ के लेखक हैं—इस प्रसिद्धि में हमें पर्याप्त संशय है। इस ग्रन्थ का उद्धरण प्राचीन आचार्यों के ग्रन्थों में नहीं मिलता; अट्ठारवीं शती के शाक्त भास्कर आचार्य (द्र० १७ श्लोक की व्याख्या) तथा १६-१७ वीं शती के योगी शिवानन्द (द्र० ६ श्लोक की व्याख्या) के द्वारा इस ग्रन्थ के वाक्य उद्धृत हुये हैं। किंच शंकर-संप्रदाय के किसी आचार्य के द्वारा अथवा हठयोगादि योगप्रस्थानों के किसी आचार्य के द्वारा इस ग्रन्थ की टीका न लिखा जाना इसकी शंकरकर्तृकता में दृढ़ संशय उत्पन्न करता है। यह भी देखा जाता है कि इस ग्रन्थ का वाक्य 'नन्दिकेश्वरकृत तारावली' के नाम से उद्धृत किया गया है (द्र० ६ श्लोक

की व्याख्या)। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि इस ग्रन्थ को शंकर-विरचित मानना संशयास्पद है।

यदि नन्दिकेश्वर नामक किसी आचार्य के द्वारा यह ग्रन्थ विरचित हो तब भी इस प्रश्न का समाधान ढूँढना होगा कि क्यों यह ग्रन्थ शंकराचार्य की कृति के रूप में प्रसिद्ध हुआ? नन्दिकेश्वर का परिचय भी निर्धारणीय है। पुराणों में जिस शिलाद ऋषि के पुत्र नन्दिकेश्वर का चरित है[२] (जिनका मानव शरीर जीवित अवस्था में ही दैव शरीर में परिणत हो गया था; द्र० व्यासभाष्य २।१२-१३) वे इस ग्रन्थ के रचयिता हैं, ऐसा मानने का कोई आधार नहीं है।

ग्रन्थकार ने श्रीशैल (श्रीपर्वत) में निवास करने की उत्कट इच्छा व्यक्त की है (श्लोक २८)। लेखक का दक्षिणभारत का निवासी होना इससे ज्ञापित होता है।

प्रस्तुत संस्करण का मुख्य वैशिष्ट्य यह है कि हमने श्लोकों के अर्थनिर्धारण में कहीं भी निराधार कल्पना का आश्रय नहीं लिया तथा व्याख्या में अनावश्यक विस्तार भी नहीं किया। श्लोक-प्रयुक्त शब्दों का अर्थ अन्यान्य योगग्रन्थों के आधार पर ही किया गया है—यह सहृदय पाठक देख सकते हैं। व्याख्या में जो सामग्री संकलित की गई है उसके आधार पर पाठक स्वयं भी श्लोकों के अर्थों का निर्धारण करने में समर्थ होंगे—ऐसा हम समझते हैं; साथ ही हम यह भी चाहते हैं कि पाठक स्वयं हमारी व्याख्या की युक्तायुक्तत्व की परीक्षा करें। हमें यह कहने में कोई भी संकोच नहीं है कि ग्रन्थोक्त कुछ विषय सर्वथा स्पष्ट नहीं हैं। इस

---

२. द्र० शिवपु० ३।६ अ०; स्कन्दपु० केदारखण्ड ५।१११–१९३; स्कन्दपु० काशीखण्ड ११।१०६; वराहपु० १४४।१६७; वराहपु० २१३।६९–७१; कूर्मपु० १।४३।१२८; २।४१।१७–४२। विशद विवरण के लिए मेरा 'Nandin–a yogin' शीर्षक निबन्ध (Journal of the Yoga Institute, Bombay, Vol. XXVII. 8 में प्रकाशित) पठनीय है।

अस्पष्टता का एक हेतु है—श्लोकों के अशुद्ध पाठ--यह कहना अनुचित नहीं होगा। यह भी निवेदनीय है कि हम चूँकि स्थूलरूप से योग का मनन-मात्र करते हैं, अतः अयोग्यता के कारण भी हमारी व्याख्या में कहीं-कहीं भ्रान्ति हो सकती है।

पाठकों की सुविधा के लिए एक 'शब्दसूची' भी ग्रन्थान्त में दी गई है। पाठक देखेंगे कि ग्रन्थगत कई शब्द विरल-प्रयुक्त हैं। हठसंकेतचन्द्रिका, हठतत्त्वकौमुदी (सुन्दरदेवकृत) आदि विस्तृत ग्रन्थों के प्रकाशन होने पर इन शब्दों के अर्थों को समझने में सुविधा होगी। इति

गुरुपूर्णिमा
११-७-१९८७
डी० ३८/८ हौजकटोरा, वाराणसी

रामशंकर भट्टाचार्य

PREFACE

The Yogatārāvalī deals with some practices of both Haṭha-yoga and Rājayoga. Though the work is in 29 verses, yet almost all important practices are mentioned in it. In a few places necessary details have also been given in brief.

A synopsis of these verses is given below :

(Verse 1) Obeisance to Haṭhayoga.

(2) The *nādānusandhāna* concentration is said to be the highest of all *layas* (obsorption).

(3) Divine experience to be realized by the practitioner whose nerves have been purified.

(4) The dissolution of the mind into the feet of Viṣṇu by means of the *nādānusandhāna* (listening to the inner sound).

(5) Efficacy of the three *bandhas*, namely Jālandhara, Uddiyāna and Mūla.

(6) The rise of Kuṇḍalī (Coiled Energy) and its entering the Suṣumnā nerve.

(7) Drinking of nector issuing from the moon heated by the fire coming out from the Suṣumnā nerve.

(8) Practice of Kevala-kumbhaka (the stoppage of breath called Kevala) which checks the flow of external knowledge.

(9-10) The developed stage of Kevala kumbhaka; absence of inhalation and exhalation in this *kumbhaka*.

(11-12) The state in which the vital air gets dissolved in Viṣṇu's feet.

(13) The rise of the state that transcends all functions of sense organs.

(14-16) Characteristics of the perfected stage of Rājayoga.

(17) Description of the stage called Manonmanī (fixedness of mind).

(18) Characteristics of yogins attaining to the state of Manonmanī.

(19) Chief means of acquiring the Unmanī state (steadiness of mind).

(20) Characteristics of the mind that can attain to peace.

(21-22) External as well as internal signs or characteristics of persons established in the Amanaska mudrā.

(23) Intense longing of a practitioner to acpuire the Amanaska state.

(24) The rise of *Yoganidrā* (yogic sleep) and its results.

(25-26) Qualifications of a person capable of attaining to yogic sleep and the divine pleasure to be d rived from it.

(27) Persons who are bereft of all knowledge of objects.

(28) Longing of a practitioner of higher stage to acquire *siddhi* and to reside in the cave of the Śrīparvata.

(29) The state in which a practitioner listens to divine sounds.

The authorship of the work is usually ascribed to the great Advaita teacher Śaṅkarācārya. There are however strong grounds to hold that this ascription is not beyond doubt. The work had not been commented on by any of the direct or indirect disciples of Śaṅkarācāry, nor has it been commented on by any teacher of minor yoga schools. Moreover the work does not seem to have been quoted by any teacher who lived before the fifteenth century. All these tend to show that the work belongs to a much later date. It is quite reasonable to hold that the work was composed by one of those later Śaṅkarācāryas who were proficient in Haṭha and Rāja yogas.

There is a difficulty in accepting this view also, for the work was ascribed to Nandikeśvara by Śivānanda (in his Yogacintāmaṇi, p. 15), one of the authorities on yoga. It is difficult to explain this change in authorship. Even if we accept the authorship of Nandikeśvara, it is difficult to identify him. Historically it is impossible to take this Nandikeśvara as the same as the Puranic Nandin or Nandikeśvara (the son of the sage Śilāda), who assumed a *daiva śarīra* (divine body) through the grace of Śiva. A Nandikeśvara is said to have composed a commentary (in verse) on the fourteen Pratyāhāra sūtras of Paninian grammar. The identification of these two Nandikeśvaras is still to be proved.

It is a pity that the present work has no ancient Sanskrit commentary. There are, however, a few translations and commentaries in Hindi and Bengali. These commentaries neither try to determine the intended importe of the important expressions of the text, nor take into consideration the variant readings found in the different printed editions of the text. Though we have tried to

explain the expressions of the text with the help of the available works on Haṭhayoga and Rājayoga, yet we do not hesitate to declare that the significance of some of the expressions remains still to be determined.

The work, we believe, will delight all lovers of yoga and inspire them to run on the path of yoga with undivided attention.

R. S. Bhattacharya

योगतारावली

वन्दे गुरूणां चरणारविन्दे
सन्दर्शितस्वात्मसुखावबोधे ।
जनस्य ये जाङ्गलिकायमाने
संसारहालाहलमोहशान्त्यै ॥१॥

[१. निःश्रेयसे माङ्गलिकायमाने (पाठा०)]

अनुवाद—संसाररूपी विष (के पान) से उत्पन्न मोह की शान्ति के लिए गुरुदेव के जो दो चरणकमल (लोगों में) विषवैद्य की तरह आचरण करते हैं अर्थात् गुरु के चरण संसारमोह का नाश करते हैं), आत्मसुखबोध के दर्शक उन दो चरणों की वन्दना करता हूँ ।

व्याख्या—गुरु शब्द में जो बहुवचन है वह या तो स्वीय गुरु के प्रति गौरव-प्रदर्शन के लिए है अथवा वह परम्परागत सभी गुरुओं के लिए है। योगाभ्यास के लिए गुरु-उपदेश की अत्यन्त आवश्यकता होती है । यही कारण है कि योग के ग्रन्थों में 'गुरु-उपदिष्ट मार्ग' आदि शब्द प्रायः प्रयुक्त होते हैं । गुरु-महिमा के लिए ह० यो० प्र० १।१४ की ज्योत्स्ना टीका द्रष्टव्य है ।

सन्द…बोधे—'चरणारविन्दे' का विशेषण । सन्दर्शित हुआ है स्वात्म-सुख-अवबोध जिनके द्वारा वे (दो चरण) ।

जाङ्गलिक = विषवैद्य; अमरकोश १।८।१४ में जाङ्गुलिक शब्द है, पर जाङ्गलिक शब्द का भी अन्य कोशों में उल्लेख मिलता है । काशीखण्ड आदि में जाङ्गुलिक शब्द प्रयुक्त हुआ है ।

तृतीय चरण का पाठान्तर है—निःश्रेयसे माङ्गलिकायमाने' । यह पाठ लगत

हो सकता है। ये दो पद 'चरणारविन्दे' के विशेषण हैं। निःश्रेयस = निश्चित श्रेयोरूप। माङ्गलिकायमान = माङ्गलिक की तरह आचरण करने वाले।

हालाहल = विष। पुराणों में कहा गया है कि हिमालय पर्वतस्य हलाहला-नदी के तीर में यह विष उत्पन्न होता है।

सदाशिवोक्तानि सपादलक्ष-
लयाप्रधानानि च सन्ति[1] लोके।
नादानुसन्धानसमाधिमेकं
मन्यामहे मान्यतमं[2] लयानाम्[3] ॥२॥

[१. वसन्ति लोके (पाठा०) २. अन्यतमम् (पाठा०); यह भ्रष्ट पाठ है। ३ इस श्लोक का अनुरूप श्लोक ह० यो० प्र० में है—श्री आदिनाथेन सपादकोटि-लयप्रकाराः कथिता जयन्ति। नादानुसन्धानकमेकमेव मन्यामहे मुख्यतमं लयानाम् (४।६६); 'नादानुसन्धानसमाधि' शब्द ४।१८ में प्रयुक्त हुआ है।]

अनुवाद —सदाशिव के द्वारा प्रोक्त एक लाख पच्चीस हजार लययोग इस लोक में हैं। इन सब लयों में एकमात्र नादानुसन्धान-समाधि (नादानु-सन्धान-पूर्वक या नादानुसन्धान से युक्त समाधि) को (हम) सर्वोच्च लय के रूप में समझते हैं (नादानुसन्धान के विषय में श्लोक ४ द्र०)।

व्याख्या—शिव को सभी योगों के मूल वक्ता के रूप में मानने की भी एक प्रसिद्ध परम्परा है। लययोग के श्लोकोक्त भेदों की उपपत्ति गुरु-परम्परा से जाननी चाहिये—बहिरङ्ग आलोचना से यह ज्ञातव्य नहीं है। ज्योत्स्नाटीका में कहा गया है—श्री आदिनाथोक्तसपादकोटिसमाधिप्रकारेषु (४।२)। इस योग के अनन्तकोटि भेद हैं—यह भी कहीं कही कहा गया है। साधन-क्रिया के कौशल-भेद से ये भेद होते हैं—यह ज्ञातव्य है।

लययोग योग का अवान्तर भेद है। प्राचीन परम्परा में योग के चार भेद माने गये हैं—मन्त्र, लय, हठ तथा राजा (द्र० शिवपु० ७।२।३७।९, लिङ्गपु० २।५५।७ आदि)। योगतत्त्वोपनिषद् २२-२३, दत्तात्रेय-संहिता (प्राणतोषिणी तन्त्र, पृ० ४३९-४४० में उद्धृत) आदि में इस योग का विशिष्ट विवरण द्रष्टव्य है[1]। योगकर्णिका, पृ० १४३-१४४ भी द्रष्टव्य है।

नादानुसन्धान का अर्थ है—अनाहतध्वनि का अनुचिन्तन। इस 'अनुसन्धान' शब्द का प्रयोग अमनस्कयोग २।१४ में भी मिलता है। नादानुसन्धान को श्रेष्ठ लय मानना हठयोग का एक प्रतिष्ठित मत है—न नादसदृशो लयः (ह० यो० प्र० १।४३)। 'लय' का तात्पर्य 'लयहेतु' से है—नाद चित्तलय का सर्वश्रेष्ठ हेतु है। ह० यो० प्र० ४।६६-१०२ में नादानुसंधान का सविशेष विवरण द्रष्टव्य है।

लयावधान = लय के प्रति अवधान। इस लय के विषय में ह० यो० प्र० ४।३१-३४ द्रष्टव्य है। लय का सर्वोच्च रूप मनोलय है, पर पहले प्राणलय करणीय है। मनोलय के कारण विषय-विस्मृति (विषय ज्ञान का संस्कार न रहने के कारण) होती है (४।३४)। यह लय उसको होता है, जिसके श्वास-प्रश्वास रुद्ध हो गये हैं (योग-शास्त्रोक्त उपायविशेष के द्वारा—अन्य किसी अशास्त्रीय उपाय से नहीं), शब्दादि का ग्रहण रुद्ध हो गया है और शारीरिक क्रियाये स्तम्भित हो गई हैं—'निर्जीवः काष्ठवत् तिष्ठेल् लयस्थश्चाभिधीयते'। योगचिन्तामणि पृ० २५५-२५६ में लयस्थ योगी के लक्षण द्रष्टव्य हैं। लयस्थ योगी के विशद वर्णन के लिए तथा लयाभ्यास के फल आदि के लिए गोरक्षकृत अमनस्क-योग (१।३७ से अध्यायान्त पर्यन्त) द्रष्टव्य है।

---

१. द्र० क्षेत्रज्ञः परमात्मा च तयोरैक्यं यदा भवेत्। तदैक्ये साधिते देवि चित्तं याति विलीनताम्॥ पवनः स्थैर्यमायाति लययोगोदये सति। (योगबीज)। लययोगेऽपि, नवस्वेव चक्रेषु मरुन्मनसोर्लयो लययोग इत्युच्यते (योग-चिन्तामणि, पृ० १३)।

सरेच-पूरैरनिलस्य कुम्भैः[१]
सर्वासु नाडीसु विशोधितासु।
अनाहतादम्बुरुहादुदेति
स्वात्मावगम्यः स्वयमेव बोधः[२] ॥३॥

[१. कुम्भे (पाठा०)--यह अपपाठ है। २. अनाहताख्यो बहुभिः प्रकारैरन्तः प्रवर्तेत सदा निनादः (पाठा०)—अनाहत नामक नाद अनेक प्रकारों से अन्तःकरण में सदा उदित रहता है।]

अनुवाद--वायु के पूरक, रेचक और कुम्भक के द्वारा जब नाडियाँ विशोधित मलहीन हो जाती हैं, तब अनाहत नामक पद्म (चक्र) से वह बोध स्वयं ही उदित होता है जो अपने द्वारा ही ज्ञेय है (अर्थात् दूसरे किसी के द्वारा ज्ञात नहो हो सकता)।

व्याख्या--यहाँ रेचक, पूरक और कुम्भक के द्वारा जिस नाडीशुद्धि की बात कही गई है उसका स्वरूप है--योगविरोधी मल का दूरीकरण जिसके कुछ बाह्य फल शरीर में भी दृष्ट होते हैं। नाडीशुद्धि होने पर सप्राण शरीर आत्मज्ञान के अभ्यास के लिए समर्थ होता है तथा सूक्ष्म मानस अनुभूतियों का उदय होने पर उसके वेग का धारण कर सकता है।[१] हठयोग के ग्रन्थों में प्राणायाम का विशेष विवरण द्रष्टव्य है। सामान्यतः कहा जा सकता है कि बाह्य वायु का प्रयत्नविशेष से ग्रहण करना पूरक है। पूरित वायु का बन्धपूर्वक निरोध करना कुम्भक (कुम्भ शब्द भी प्रयुक्त होता है) है। कुम्भक के

---

१. द्र० यथेष्टं धारणं वायोरनलस्य प्रदीपनम्। नादाभिव्यक्तिरारोग्यं भवेन् नाडीविशोधनात् ॥ (काशीखण्ड); यदा नाडीविशुद्धिः स्यात् तदा चिह्नानि योगिनः। जायन्ते यानि देहे वै तानि मे गदतः शृणु। शरीरलघुता दीप्तिर्जठराग्निविवर्धनम्। कृशत्वं च शरीरस्य तदा जायेत निश्चितम् ॥ (दत्तात्रेय)।

बाद प्रयत्न-विशेष से वायु का रेचन (=बहिर्निःसारण) रेचक है। पूरणादि नाना प्रकार से किये जाते हैं।

योग में नाडियों की संख्या ७२००० मानी गई है (ह० यो० प्र० १-३९; ३।१२३) तथा ज्ञानसंकलिनी-तन्त्र ७७। इस मत का मूल श्रुति में है (प्रश्न० ३।६)। ये नाडियाँ हृदय से सर्वतोगामी होकर पूरे शरीर में व्याप्त रहती हैं।

आहत (=अभिघात से उत्पन्न) न होने के कारण यह ध्वनि 'अनाहतनाद' कहलाता है। यह प्रधानतः अनाहत चक्र में उदित होता है। पहले पहल यह दक्षिणकर्ण में सुना जाता है (ऐसा ही प्रतीत होता है); बाद में पूरे शरीर में ऊर्ध्वगतिमान् धारा की तरह ज्ञात होता है। इस अनाहत के द्वारा ही कुण्डलिनी को ब्रह्मरन्ध्र में लाया जाता है। नाद यहाँ बिन्दुरूप से परिणत होता है—ऐसा योगियों का कहना है। (द्र० घेरण्डसंहिता उप० ५)।

नादानुसन्धान नमोऽस्तु तुभ्यं
त्वां मन्महे तत्त्वपदं लयानाम्[१]।
भवत्प्रसादात् पवनेन साकं
विलीयते विष्णुपदे मनो मे ॥४॥

[१. त्वां साधनं तत्त्वपदस्य जाने (पाठा०)—अर्थात् तुम तत्त्वपद का साधन हो—ऐसा मैं जानता हूँ]

अनुवाद—हे नादानुसन्धान, तुम्हे नमस्कार है। लयों में तुम ही तत्त्व-पद हो—ऐसा हम समझते हैं। तुम्हारी प्रसन्नता (=स्वच्छता, निर्मलता) होने पर वायु (=प्राणवायु) के साथ मेरा मन विष्णुपद में विलीन होता है।

व्याख्या—नादानुसन्धान के लिए ह० यो० प्र० ४।६६-६८ तथा घेरण्ड-संहिता उप० ५ द्रष्टव्य है। इसका निकट सम्बन्ध राजयोग से है। चित्तलय में

नाद की हेतुता योगशास्त्र में स्पष्टतया कथित हुई है। (द्र० ह० यो० प्र० ४।८१, ४।९८)।

तत्त्वपदं लयानाम्—तत्स्वरूप जो पद वह तत्त्वपद। तत्त्व=वस्तु का अनारोपित रूप[1]। पद=योगियों द्वारा गम्य (पद्यते गम्यते योगिभिः)।

'प्राणवायु के साथ मन का विष्णुपद में लीन होना' हठयोग का प्रसिद्ध मत है—यन्मनो विलयं याति तद् विष्णोः परमं पदम् (घेरण्ड० ५।८२); ह० यो० प्र० ४।२९ में प्राण और मन के लय के विषय से सम्बन्धित कार्यकारणपरम्परा कही गई है।

[1]जालन्धरौड्यानकमूलबान्धन्
जल्पन्ति कण्ठोदरपायुमूले[2]।
बन्धत्रयेऽस्मिन् परिचीयमाने
बन्धः कुतो दारुणकालपाशैः ॥५॥

[१. जालन्धरोड्डयन (पाठा०) इस पाठ में छन्दोभङ्ग होता है। २. पायुमूलान् (पाठा०)—इस पाठ में 'पायुमूलान्' शब्द 'जालन्धरोड्डयानकमूलबन्धान्' शब्द का विशेषण होगा और अर्थ होगा— कण्ठ, उदर और पायु जिनके मूल हैं, वे। क्या जालन्धरबन्ध को कण्ठमूलक कहना उचित है ? इसी प्रकार क्या ओड्डयानकबन्ध और मूलबन्ध को यथाक्रम उदरमूलक और पायुमूलक कहना उचित है ?]

---

१. यद्धि यस्य नान्यापेक्षं स्वरूपं तत् तस्य तत्त्वम्; यद् अन्यापेक्षं न तत् तत्त्वमन्याभावेऽभावात् (तै० उप० २।८ का भाष्य)। सभी घटों का तत्त्व है—मृत्। द्र० प्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी ३।१।२ (तस्य भावस्तत्त्वमिति''''''अबरूपत्वं च)। तुल० महाभाष्य के 'किं पुनस्तत्त्वं (५।१।११९) वाक्य पर कैयट की व्याख्या—एकाकारबुद्धिनिमित्तम् (प्रदीप)

अनुवाद—(योगीगण) कहते हैं कि कण्ठ, उदर और पायुमूल में (यथाक्रम जालन्धरबन्ध, ओड्डयानबन्ध एवं मूलबन्ध का अभ्यास करना चाहिये। ये तीन बन्ध यदि भलीभाँति ज्ञात (अर्थात् अनुष्ठित हो तो दुःखदायी कालपाश के द्वारा वन्धन कैसे हो सकता है ? (अर्थात् बन्धन नहीं हो सकता) ?

व्याख्या—श्लोकगत ओड्डयानक (जालन्धर + ओड्डयानक) शब्द जिस बन्ध को कहता है उसके नाम में एकरूपता नहीं मिलती। ह० यो० प्र० २।४५ में उड्डियानक शब्द है ('क' स्वार्थ में तद्धित प्रत्यय है)। प्रस्तुत ग्रन्थ के श्लोक ६ में उड्डीन या ओड्डयान शब्द है। कहीं कहीं उड्डीयन और उड्डीयान' शब्द प्रयुक्त हुये हैं। यह निश्चित है कि यह शब्द 'उद + डी (ङ्)' से निष्पन्न है; इसका 'उड्डियान' रूप ही संगत प्रतीत होता है। उड्डियान का नामान्तर 'आकर्षणबन्ध' है।

उड्डीयान--तस्मादुड्डीयनाख्योऽयम्-ह० यो० प्र० ३।५५—ज्योत्स्ना-- 'उत्पूर्वात् डीङ् विहायसा गतौ इत्यस्मात् करणे ल्युट्'। पर इस नियम से उद + डी + अन (ल्युट्) = उड्डयन' होगा, उड्डीयन' (३।५५ में प्रयुक्त) नहीं होगा। अतः उड्डीयन शब्द के लिए पृथक् प्रयत्न करना होगा।

ह० यो० प्र० ३।५६—उड्डीनं कुरुते यस्मात्…उड्डीयानं तदेव स्यात्। उड्डीन शब्द कर्णपर्व ४१।२६ में प्रयुक्त है तथा व्याकरणग्रन्थ में भी है (द्र० काश० धातु० १।५५९)।

उड्डियान—इसके बहुत प्रयोग हैं। (ह० यो० प्र० ३।७४; २।४५ (उड्डियानक); २।४७ टीका (उड्डियान)।

योगशास्त्र में नाना प्रकार के बन्ध कहे गये हैं, जिनमें जालन्धर (नामान्तर कण्ठमुद्रा,) उड्डियान तथा मूल प्रसिद्धतम हैं। इनके विवरण के लिए ह० यो० प्र०, घेरण्डसंहिता आदि द्रष्टव्य हैं।

कालपाश--कालरूपी पाश; पाश वह जिससे किसको बाँधा जा सके। द्र० ह० यो० प्र० ३।२४ (कालपाशमहाबन्ध……)।

ओड्ड्यान¹-जालन्धर-मूलबन्धै
रुन्निद्रितायामुरगाङ्गनायाम् ।
प्रत्यङ्मुखत्वात् प्रविशन् सुषुम्नां
गमागमौ मुञ्चति गन्धवाहः² ।।६।।

[१. उड्डीन० (पाठा०) । २. योगचिन्तामणि में यह श्लोक (उड्डीन-जाल.... प्रत्यग् विमुञ्चन्....) नन्दिकेश्वरकृत-तारावली ग्रन्थ के नाम से उद्धृत किया गया है (पृ० १५)]

अनुवाद—ओडड्यान (=उड्डियान), जालन्धर तथा मूल नामक बन्धों के द्वारा भुजगी (=सर्पाकृति कुलकुण्डली) के जागरित होने पर गन्धवाहक अर्थात् वायु प्रत्यङ्मुख (=अधोमुख) होकर सुषुम्ना में प्रविष्ट होता है और गमन-आगमन-क्रिया को छोड़ देता है (अर्थात् निश्चल हो जाता है) ।

व्याख्या—वायु की प्रत्यङ्मुखगति को कभी-कभी पराङ्मुख गति भी कहा जाता है (ज्योत्नाटीका ३।३७) । मूलाधार को सुषुम्नामुख माना जाता है—सुषुम्नामुखं मूलाधार एवोक्तम (योगचिन्ता०, पृ० १११) ।

चूंकि कुण्डली, कुण्डलिनी या कुलकुण्डलिनी सर्पाकृतिवाली मानी गई है अतः 'उरग-अङ्गना' (सर्पस्त्री, सर्पकन्या) शब्द प्रयुक्त हुआ है ।

प्राणवायु का अधोमुख गमन ह० यो० प्र० १।४८ में कथित हुआ है। (पूरितं न्यञ्चन् प्राणम; द्र० टीका) । इस ग्रन्थ में श्लोकोक्त मत का समर्थन मिलता है। (३।७४—प्राण का पश्चिमपथ = सुषुम्ना मार्ग में ले जाना) । 'वायु का सुषुम्ना में प्रवेश' योगियों का अन्यतम महत्त्वपूर्ण अभ्यास है (ह० यो० प्र० ४।१९) ।

प्राणवायु उपायविशेष से निश्चल होकर रह सकता है। शारीरकभाष्य में इस विषय में एक मार्मिक वाक्य मिलता है—यथा च लोके प्राणापानादिषु

प्राणभेदेषु प्राणायामेन निरुद्धेषु कारणमात्रेण रूपेण वर्तमानेषु जीवनमात्रं कार्यं निर्वर्त्यंते नाकुञ्चन-प्रसारणादिकं कार्यान्तरम् (२।१।२०)।

उत्थापिताधारहुताशनोल्कैर्
आकुञ्चनैः शश्वदपानवायोः[१]।
सन्तापिताच्[२] चन्द्रमसः स्रवन्तीं
पीयूषधारां पिबतीह धन्यः॥७॥

[१. अपानवायौ (पाठा०)--यह भ्रष्ट पाठ है। सन्तापिते; संप्रापिते (पाठा०)]

अनुवाद—अपान वायु का निरन्तर (बारबार) आकुञ्चन होने के कारण आधार (मूलाधार चक्र) से जो अग्नि की शिखा निर्गत होती है, उससे चन्द्र सन्तापित होता है। इस सन्तापित चन्द्र से क्षरित सुधा का पान जो साधक करता है, वह इस लोक में धन्य है।

व्याख्या—मूलाधार-स्थित अग्नि--ह० यो० प्र० ३।६६ से इस अग्नि की सत्ता ज्ञात होती है। यह अग्नि जाठरअग्नि का ही विकसित रूप है (द्र० ज्योत्स्ना-टीका)। जठराग्नि के इस विकास में समान वायु का पर्याप्त सहयोग रहता है। यही कारण है कि योगी का शरीर जलता हुआ-सा प्रतीत होता है; द्र० समानजयाज् ज्वलनम् (योगसू० ३।४०); प्रज्वलन्निव लक्ष्यते योगी (भास्वती)।

मूलाधारस्थित अग्नि की उल्का (= शिखा) का स्पष्ट उल्लेख योगियाज्ञ० १२।१ में मिलता है (शिखां समालोक्य पावकस्य)। अपानवायु का जो आकुञ्चन है, वह वस्तुतः मूलाधार का आकुञ्चन है; द्र० अधस्तात कुञ्चनेनाशु... (ह० यो० प्र० २।४६)। अपानवायु का आकुञ्चन ह० यो० प्र० ३।६२-६३ में उक्त हुआ है।

'सन्तापित चन्द्र' क्या है—यह श्लोक में नहीं कहा गया। चन्द्र या सोम (शरीरस्थ) का उल्लेख हठयोग-ग्रन्थों में स्पष्ट रूप से मिलता है। मुख्य चन्द्र सहस्रारपद्म में स्थित है। इसके अतिरिक्त अन्यत्र भी चन्द्रस्थिति का उल्लेख मिलता है—तालुमूलस्थ चन्द्र (ह० यो० प्र० ३।७७; योगबीज ५७-५८); नासाग्रस्थ चन्द्र (घेरण्ड० ५।४३), भ्रूमध्यस्थ चन्द्र (ज्योत्स्नाटीका ४।६४); हृदयकमलस्थ चन्द्र (योगियाज्ञ० ९।३५-३६)। इन चन्द्रों से भी अमृत का क्षरण होता है (ये सब गौण चन्द्र हैं)। सुधा अमृत या पीयूष के लिए कहीं कहीं 'सार' शब्द भी प्रयुक्त हुआ है (ह० यो० प्र० ३।४९)। यह सुधा अग्नि में गिर कर नष्ट हो जाती है। अभ्यास-विशेष से सुधा का पतन बन्द किया जा सकता है। यह सुधापान वस्तुतः पीना रूप क्रिया (जो लोक में प्रसिद्ध है) नहीं है--यह ध्यानविशेष-साध्य है। यही कारण है कि कहीं कहीं 'ध्यायन् चन्द्रमसम्' कहा गया है।

इस अमृत का पान करने से कुछ अद्‌भुत शक्तियाँ प्राप्त होती हैं; इसी दृष्टि में 'धन्य' शब्द का प्रयोग किया गया है। उदाहरणार्थ लम्बिकोर्ध्वस्थितचन्द्ररस का पान करने वालों के प्रति तक्षकनाग का विष भी व्यर्थ हो जाता है (ह० यो० प्र० ३।४५)।

बन्धत्रयाभ्यासविपाकजातां
विवर्जितां रेचक-पूरकाभ्याम्।
विशोषयन्तीं[1] विषयप्रवाहं
विद्यां भजे केवलकुम्भरूपाम्॥८॥

[१. विशेषयन्तीं (पाठा०) = विषयप्रवाह की शुद्धिकारिणी]

अनुवाद--उपर्युक्त तीन बन्धों के अभ्यास से उत्पन्न होने वाली केवल कुम्भक रूप विद्या का भजन (= ऐकान्तिक अभ्यास) मैं करता हूं। यह केवल कुम्भक रूप विद्या रेचक-पूरक से वर्जित है तथा विषय-प्रवाह की शोषणकारिणी है।

व्याख्या—'केवल' एक विशेष प्रकार के कुम्भक का नाम है। इस कुम्भक के विषय में यहाँ जो कहा गया है, वह सहेतुक है। वह हेतु है--मनोन्मनी अवस्था के साथ इस कुम्भक का निकटतम सम्बन्ध (द्र० घेरण्ड० ५।६१)। 'केवल' कुम्भक की महत्ता 'केवले कुम्भके सिद्धे किं न सिध्यति भूतले' (घेरण्ड० ५।९६) वाक्य जानी जाती है।

हठयोग में 'बन्धत्रय' से मूल उड्डीयान-जालन्धर नामक तीन बन्ध गृहीत होते हैं (द्र० ह० यो० प्र० १।४२ टीका।

यहाँ 'केवल' कुम्भक के विषय में विशिष्ट सूचना दी गई है। पहली बात यह है कि दीर्घकाल पर्यन्त बन्धत्रय का अभ्यास करने के बाद ही इस कुम्भक का अभ्यास करना चाहिये। दूसरी बात यह है कि प्रयत्नपूर्वक रेचक करने के बाद अथवा पूरक करने के बाद यह अनुष्ठय नहीं—रेचक-पूरक पर ध्यान न देकर इस कुम्भक का अभ्यास किया जाता है—'रेचकं पूरकं त्यक्त्वा सुखं यद् वायुधारणम्' यह हठयोगीय वाक्य इस कुम्भक का परिचायक है। यह कुम्भक विषय-प्रवाह का शोषक है अर्थात् विषय-सम्पर्क से इन्द्रिय में जो चाञ्चल्य होता है, वह चाञ्चल्य इस कुम्भक की अवस्था में नहीं होता।

'केवल' कुम्भक के लिए द्र० ह० यो० प्र० २।७२-७४; १।४३।

अनाहते चेतसि सावधानैर्
अभ्यासशूरैरनुभूयमाना।
संस्तम्भितश्वासमनःप्रचारा
सा जृम्भते केवलकुम्भकश्रीः ।९॥

[१. सूरैः (पाठा०)--यह अपपाठ है]

अनुवाद--जब चित्त अनाहत चक्र में स्थिर हो जाता है तब श्वास और मन की क्रियायें स्तम्भित हो जाती हैं। इस अवस्था में 'केवल कुम्भक' का उत्कर्ष प्रकटित होता है। इस उत्कर्ष का अनुभव सावधान अभ्यासदक्ष साधक कर सकते हैं।

व्याख्या--'सावधान' और 'अभ्यासशूर'--ये दो साभिप्राय विशेषण हैं। 'अव+धा' का अर्थ होता है--अन्तर्मिन; अतः अवधान का अर्थ होगा--एक-आलम्बन परायणता।

'स्तम्भित अवस्था' नाश की अवस्था नहीं है--यह अच्छी तरह से ज्ञातव्य है।

'प्रचार' का अर्थ है--भ्रमण, गमनागमन, प्रवृत्ति। यहाँ 'क्रिया' अर्थ करना उचित है।

केवल कुम्भक में श्वासरोध के साथ-साथ मन का भी रोध होता है--यह ग्रन्थकार का कहना है। प्रकृत बात यह है कि श्वासरोध मनोरोध का अवश्य सहायक होता है--यदि वह रोध वैराग्यादिपूर्वक हो; अन्यथा केवल श्वासरोध पूर्वक मनोरोध योग की दृष्टि में विशेष लाभप्रद नहीं होता।

सहस्रशः सन्तु हठेषु कुम्भाः
संभाव्यते केवलकुम्भ एव।
कुम्भोत्तमे यत्र तु रेचपूरौ
प्राणस्य न प्राकृतवैकृताख्यौ ॥१०॥

अनुवाद—हठयोग के ग्रन्थों में यद्यपि सहस्र प्रकार के कुम्भकों का उल्लेख है, तथापि 'केवल' कुम्भक की श्रेष्ठता मानी गई है। कारण यह है कि इस श्रेष्ठ कुम्भक में प्राण (बाह्य वायु) के रेचक (अपर नाम 'प्राकृत' तथा पूरक (अपर नाम 'वैकृत') का अस्तित्व नहीं रहता।

व्याख्या--'हठ' शब्द हठयोग को भी कहता है (हठात् हठयोगात्, ज्योत्स्ना ३।५१। हठयोग शब्द से हठयोग-ग्रन्थ या हठयोगसंप्रदाय रूप अर्थ लेना असंगत नहीं है। 'हठेषु' में जो बहुवचन है उसकी सगति इस दृष्टि से हो जाती है। 'संभाव्यते' में जो 'सम्+भू' धातु है उससे गौरव या समादर का अतिशय होना ज्ञापित होता है।

चूंकि हठ का लक्षण है—प्राणापांनयोरैक्यलक्षणः प्राणायामो हठयोगः (ह० यो० प्र० १।१ की टीका), इसलिये हठशास्त्र में कुम्भक की नियत सत्ता स्वाभाविक रूप से स्वीकार्य होता है।

प्राणायाम के भेद से कुम्भक के भेद होते हैं (हठयोग में प्राणायाम के सूर्यभेद आदि आठ भेद इसी दृष्टि से होते हैं); अतः आठ प्रकार के कुम्भक हुये (द्र० घेरण्ड० ५।१६ 'अष्ट कुम्भकाः') । प्रसंगतः यह ज्ञातव्य है कि देवल ने सात प्रकार का कुम्भक माना है (द्र० योगचिन्ता० पृ० १८)।

त्रिकूटनाम्नि स्तिमितेऽन्तरङ्गे
खे स्तम्भिते केवलकुम्भकेन[1] ।
प्राणानिलो भानु-शशाङ्क नाड्यो
विहाय सद्यो वलयं प्रयाति ॥११॥

[१. त्रिकूटनाम्नि तिमिरेऽन्तरे खे स्तम्भं गते केवलकुम्भ एव (पाठा०) । इसका अर्थ है—आन्तर शून्य में स्थित त्रिकूट नामक तिमिर में वायु के स्तम्भित (कुम्भक के द्वारा) होने पर 'केवल' कुम्भक वर्तमान रहता है। यह अर्थ कुछ अस्पष्ट है।]

अनुवाद--त्रिकूट नामक अन्तःस्थित शून्य देश जब केवल कुम्भक के द्वारा स्तम्भित हो जाता है, तब प्राणवायु सूर्यनाडी (पिङ्गला) और चन्द्रनाडी (इडा) को छोड़कर तत्काल ही लीन हो जाता है।

व्याख्या--त्रिकूट नामक आन्तर शून्य देश चक्रविशेष है, लयोपयोगी नौ चक्रों के विवरण में इसका उल्लेख मिलता है—ब्रह्मचक्र (मूलाधार में), स्वाधिष्ठानचक्र, नाभिचक्र, हृच्चक्र, कण्ठ-चक्र, तालुचक्र (घण्टिकामूल), भ्रूचक्र, निर्वाणचक्र (ब्रह्मरन्ध्र में), त्रिकूटचक्र (यह ब्रह्मचक्र के ऊपर है; पूर्णागिरि के पृष्ठ में) (द्र० योगचिन्ता० पृ० १२०-१२१; सौभाग्यलक्ष्मी-

उप० ३।१-९)। नाथयोग में इन नौ चक्रों की विशेष चर्चा है (सिद्ध-सिद्धान्त-पद्धति, द्वितीय उपदेश; शान्तिपर्व ३१६।११ टीका)।[१] ब्रह्मबिन्दु-उपनिषद् में भी त्रिकूट का उल्लेख है (७०)। यह तीन नाडियों का संयोगस्थल भ्रूमध्य है। उपर्युक्त त्रिकूट इससे भिन्न है।

प्राणलय = प्राणका स्थैर्य अर्थात् गति का अभाव। प्राण जब तक ब्रह्मरन्ध्र में नहीं पहुँचता है तब तक यह लय संभव नहीं होता (द्र० ज्योत्स्नाटीका ३।७५)।

प्रत्याहृतः केवलकुम्भकेन
प्रबुद्धकुण्डल्युपभुक्तशेषः।
प्राणः प्रतीचीनपथेन मन्दं
विलीयते विष्णुपदान्तराले[२] ॥१२॥

[१. प्रभुक्तकुण्डल्यु…(पाठा०); कुण्डली के प्रभुक्त विशेषण का कोई सार्थक्य प्रतीत नहीं होता। २. विष्णुपदे मनो मे (पाठा०)—इस पाठ को मानने पर 'विलीयते' क्रिया के दो कर्ता (प्राण तथा मन) मानने होंगे, जो अनुचित है।]

अनुवाद—प्रबुद्ध (= जागरित) कुलकुण्डलिनी के द्वारा उपभोग के बाद प्राण का जो अंश अवशिष्ट रहता है, वह कुम्भक के द्वारा प्रत्याहृत

---

१. यहाँ 'तदुक्तं शिवयोगे' कहकर नौ चक्रों के प्रतिपादक कुछ श्लोक उद्धृत किये गये हैं। शान्तिपर्व के श्लोक में 'द्वादशैव तु चोदनाः' कहा गया है। इन १२ चोदनाओं की व्याख्या नीलकण्ठ इस प्रकार करते हैं—(नवचक्र विवरण के बाद) "एता नव चोदना वायुनिग्रहगर्भिताः। ततः शून्यात् परं समष्टिकार्ये मनो धारयेत् ततः कारणे ततो निष्कले इति तिस्र इति द्वादश चोदनाः"।

(=संयत) होकर प्रतीचीन मार्ग (=अधोमार्ग) से धीरे-धीरे विष्णु के दो पदों के अन्तराल में (=विष्णुपद में) लीन हो जाता है।

व्याख्या--हठयोग के ग्रन्थों में 'प्राण का विष्णुपद में लय होना' कहा गया है--समीरणे विष्णुपदे निविष्टे (योगियाज्ञ० १२।२९ । इसी प्रकार मन का (सप्राण मन का) विष्णुपद में लय भी कहा गया है--मनस्तत्र लयं याति तद्विष्णोः परमं पदम (ह० यो० प्र० ४।१०० । परवैराग्य के द्वारा मन का वृत्तिशून्य होकर संस्कारशेष अवस्था में रहना ही मन का यह लय है। अनाहतध्वनि, ज्योतिर्धारणा मनोलय एवं विष्णु के परमपद के विषय में घेरण्डसंहिता का यह कथन साधकों के लिए परम उपादेय है--ध्वनेरन्तर्गतं ज्योतिर् ज्योतिरन्तर्गतं मनः। तन्मनो विलयं याति तद् विष्णोः परमं पदम ॥ (५।८०) ।

निरङ्कुशानां श्वसनोद्गमानां
निरोधनैः केवलकुम्भकाख्यैः ।
उदेति सर्वेन्द्रियवृत्तिशून्यो
मरुल्लयः कोऽपि महामतीनाम् ॥१३॥

[स्वपनोद (पाठा०)--यह भ्रष्ट पाठ है।]

अनुवाद—केवल कुम्भक के द्वारा श्वासवायु की अबाध ऊर्ध्वगति के जो बहुविध निरोध होते हैं, उनसे महामतियों (=प्रज्ञावान् योगियों) में जो अनिर्वचनीय वायुलय उद्भूत होता है, वह सभी इन्द्रियवृत्तियों से शून्य है।

व्याख्या--'निरोधन' शब्द में जो बहुवचन है उससे ज्ञात होता है कि निरोध के अवान्तर भेद हैं (ये भेद कुम्भक द्वारा कृत होते हैं)। बाह्य दृष्टि से (अर्थात् शारीरिक लक्षणों से) ये भेद जाने नहीं जा सकते।

श्वसन = वायु = श्वासक्रिया-संबद्ध वायु । साधारण लोगों में इस वायु पर कोई वशीकार देखा नहीं जाता; यही वायु की निरङ्कुशता है ।

इन्द्रियवृत्ति-शून्य मरुत (=प्राणवायु) का लय अर्थात् पञ्च प्राणों को सर्वविध क्रियाओं का न होना । इस अवस्था में शरीर जीवित ही रहता है, यद्यपि बाह्यदृष्टि से (अर्थात् चिकित्साशास्त्र की दृष्टि से) मृत प्रतीत होता है। निरोध चूंकि सात्त्विकता, निरायास तथा सुखपूर्वक होता है, अतः रोधकाल में शरीर धातुयें विकृत नहीं हो जातीं; वे स्तम्भित अवस्था (suspended animation) की स्थिति में रहती हैं ।

न दृष्टिलक्ष्याणि न चित्तबन्धो
न देशकालौ न च वातुरोधः ।
न धारणाध्यानपरिश्रमो वा
समेधमाने सति राजयोगे ॥ १४॥

अनुवाद--राजयोग जब सम्यक् रूप से विकसित हो जाता है तब न लक्ष्यों पर दृष्टियों को स्थिर रखना पड़ता है (अर्थात् स्थिर रखने की चेष्टा नहीं करनी पड़ती), न चित्तबन्ध की आवश्यकता रहती है, न वायुरोध की आवश्यकता रहती है और न धारणा एवं ध्यान के लिए श्रम करना पड़ता है ।

व्याख्या--'दृष्टियों' का विवरण हठशास्त्र में मिलता है ।

न देशकालौ—देश और काल से इसका तात्पर्य नहीं है । योगसूत्र (२।५०) में जो देशकालपरिदृष्टि कही गई है, वही इसका लक्ष्य है ।

राजयोग—योगसूत्र (१।१८) का जो असंप्रज्ञात योग है (जिसमें वृत्तियाँ पूर्णतः नहीं रहतीं; केवल संस्कार रहता है) वही राजयोग है—यह कई आचार्यों का कहना है—असम्प्रज्ञातो निरालम्बो निर्बीजो राजयोगो निरोधश्चेति असंप्रज्ञातस्य प्रसिद्धाः पर्यायाः (ज्योत्स्नाटीका ४।७)। 'निर्विकल्प' शब्द भी

इस प्रसंग में प्रयुक्त होता है—वृत्त्यन्तर-निरोधपूर्वक--आत्मगोचरधारावाहिक-निर्विकल्पकवृत्ती राजयोगः (ज्योत्स्ना ३।१२६); अयं निर्बीज इति, निर्विकल्प इति, निरालम्ब इति, राजयोग इति चोच्यते (योगचिन्ता०, पृ० ६)। चूँकि इस अवस्था में आत्मगोचर धारावाहिक निर्विकल्पक वृत्ति रहती है, अतः 'चित्तस्य एकाग्रतैव राजयोगः' कहा गया है (ज्योत्स्नाटीका ४।७७)। यह तुर्यावस्था-नामक है (ज्योत्स्ना ४।८०)।

राजयोग की सिद्धि के लिए हठ-लय-मन्त्र रूप तीन योग हैं—यह योगियों का कहना है (ह० यो० प्र० ४।१०३)।

अशेष[1]दृश्योज्झितदृङ्मयानाम्
अवस्थितानामिह राजयोगे ।
न जागरो नापि सुषुप्तिभावो
न जीवितं नो मरणं विचित्रम्[2] ॥१५॥

[१. अशेषदृश्योर्जितदृग्जयानां (पाठा०)--'अशेषदृश्योर्जितदृगजय = अशेषदृश्य के द्वारा ऊर्जित जो दृक् (= आत्मा, द्रष्टा), उसकी जयें'--इस अर्थ की कोई भी संगति नहीं है। ऊर्जित = शक्तिशाली, प्रबल, प्रशस्यतर, विशिष्ट। 'अशेषदृश्योर्जित दृग्जय है जिनकी वे—यह अर्थ भी संगत प्रतीत नहीं होता।

२. मरणं न चित्तम् (पाठा०)--न मरण और न चित्त ही रहता है।]

अनुवाद--जो राजयोग में अवस्थित होते हैं वे अशेष दृश्य के परिहार होने के कारण ब्रह्ममय हो जाते हैं। इनमें न जाग्रत अवस्था और न सुषुप्ति अवस्था होती है; न जीवन होता हैं और न मरण। यह एक विचित्र स्थिति है।

अहं-ममत्वादि विहाय सर्वं
श्रीराजयोगे स्थिरमानसानाम् ।

न द्रष्टृता[1] नास्ति च दृश्यभावः

सा जृम्भते केवलसंविदेव ॥१६॥

[१. दृश्यता (पाठा०)--यह पाठ असंगत है क्योंकि दृश्यता और दृश्य-भाव (जो शब्द यहीं प्रयुक्त हुआ है) एक ही पदार्थ है ।]

अनुवाद--जो अहंकार और ममत्व की बुद्धि का त्याग करके महान् राजयोग में स्थिरचित्त हो चुके हैं, ऐसे लोगों में दर्शक-भाव तथा दृश्य-भाव नहीं रहते; (उस अवस्था में) केवल संविद् (ज्ञानमात्र) प्रकाशित होती है ।

व्याख्या--श्रीयुक्तराजयोग=श्रीराजयोग । 'श्री' का प्रयोग करके राजयोग की गौरवित-महिमान्वित स्थिति दिखाई गई है । 'श्री' का ऐसा प्रयोग शाम्भवी मुद्रा के साथ भी देखा जाता है (श्री शाम्भव्या, ह० यो० प्र० ४।३८) ।

ममत्व--'ममता' शब्द पर भास्कर कहते हैं--ममशब्दो विभक्तिप्रतिरूपकमव्ययं ममेदमित्याकारकबुद्धिपरम् । सा च भेदघटितसंबन्धं स्वस्यतो विषयी करोति (ललितासहस्रनामभाष्य, पृ० ६४) ।

नेत्रे ययो[1]न्मेषनिमेषशून्ये

वायुर्यया[2] वर्जितरेच-पूरः ।

मनश्च संकल्पविकल्पशून्यं

मनोन्मनी सा मयि सन्निवृत्ताम्[3] ॥१७॥

[१. यथोन्मेष (पाठा०)--यह पाठ असंगत है क्योंकि 'तथा' शब्द का प्रयोग नहीं किया गया है ।

२. यथा (पाठा०) पूर्ववत् असंगत । श्लोक में उपमा देने का कोई आग्रह नहीं है--यह द्रष्टव्य है ।

३. शाक्त भास्कर ने इस श्लोक को 'योगशास्त्रे मुद्राविशेषस्य संज्ञा' कहकर उद्धृत किया है (निमेषमुक्ते-पाठ है; पृ० ६८)।]

अनुवाद--जिस मनोन्मनी अवस्था (मन का उन्मनीभाव) के द्वारा (अर्थात् जिसका अधिगम होने के कारण) दोनो नेत्र उन्मेष-निमेष-हीन हो जाते हैं, रेचक और पूरक रूप वायु (वायुक्रिया) स्तब्ध हो जाता है तथा मन भी संकल्प एवं विकल्प से रहित हो जाता है वह (उन्मनी भाव) मुझमें आविर्भूत हो।

व्याख्या—'यया' का संबन्ध 'मनोन्मन्या' से है (चतुर्थ चरण में मनोन्मनी शब्द है।) मनोन्मनी की स्थिति का आविर्भाव होने पर योगी के नेत्र, प्राणवायु और मन किस स्थिति में रहते हैं —यह यहाँ दिखाया गया है।

उन्मेष = पक्ष्मसंयोग का विश्लेष--आँख का खोलना। निमेष = अक्षि-पक्ष्म का संयोग (आँख का मूँदना) (ज्योत्स्नाटीका ४।३६)।

'रेचक-पूरकहीन वायु' का तात्पर्य उस अवस्था से है जिसमें श्वासक्रिया पूर्णतः अवरुद्ध हो जाती है, पर प्राणी जीवित रहता है क्योंकि निरोधबल का क्षय होने पर प्राणी व्युत्थित होता है। विकल्प को प्रायः संशय कहा जाता है (प्रश्नोप० ६।६ भा०)।

मनोन्मनी--प्राणवायु का सुषुम्नामध्य में संचार होने पर मन का सम्यक् स्थैर्य (= अभीष्ट ध्येयाकारवृत्तिमात्र का प्रवाह) होता है। मन का यह स्थिरीभवन ही 'मनोन्मनी' कहलाता है (ह० यो० प्र० २।४२; ४।२०)। मन का उन्मन होना = मन के द्वारा विषयमनन न होना। मनोन्मनी के लिए कभी कभी उन्मनी शब्द भी प्रयुक्त होता है। इसको 'तुर्यावस्था' भी कहा जाता है (ज्योत्स्नाटीका ४।६४)। समल शरीर में यह अवस्था होती नहीं है। उन्मनी के लिए ह० यो० प्र० ४।८०, १०४, १०६; ब्रह्मबिन्दु ४; उत्तरगीता २।४९ द्र०।

चित्तेन्द्रियाणां चिरनिग्रहेण
श्वासप्रचारे शमिते यमीन्द्राः[१] :

निवात[2]दीपा इव निश्चलाङ्गा[3]
मनोन्मनी-मग्नधियो भवन्ति[4]॥१७॥

[१. समस्ते (पाठा०) अर्थात् समस्ते श्वासप्रचारे। इस पाठ में 'भवन्ति' क्रिया का कोई विशेष्य–कर्ता–नहीं रह जाता तथा 'निश्चलाङ्गाः' विशेषण के साथ 'योगिनः' का अध्याहार करना पड़ता है।

२. निर्वात (पाठा०)।

३. निवातदीपैरिव निश्चलाङ्गैः (पाठा०)—निवात दीपों की तरह निश्चलअङ्गों के द्वारा। यह अर्थ हो सकता है, पर बहुत संगत नहीं जंचता।

४. मनोन्मनी सा मयि सन्निधत्ताम् (पाठा०)। इस पाठ में अर्थ संगत नहीं होता। यह वाक्य १७ वें श्लोक का चतुथ चरण है। लिपिकर के अनवधान से यह अंश यहाँ पुनः लिखित हो गया है—ऐसा प्रतीत होता है।]

अनुवाद –चित्र और इन्द्रिय के दीर्घकालीन निग्रह के कारण श्वास-क्रिया निरुद्ध हो जाती है। ऐसी स्थिति में श्रेष्ठ योगी निवातस्थ दीपो की तरह निश्चलाङ्ग हो जाते हैं तथा उनकी बुद्धि मनोन्मनी-नामक अवस्था में मग्न हो जाती है।

व्याख्या—'चिरनिग्रह' अर्थात् दीर्घकालव्यापी निरोध। निरोध में क्रम-विकास देखा जाता है (तुल० योगो हि प्रभवाप्ययौ, कठ० २।३।११)। निरोध संस्कार की वृद्धि (जो निरोधजनक क्रिया बार-बार करने से होता है) से निरोध-अवस्था की वृद्धि होती है। चित्त का निरोध होने पर श्वास-प्रश्वास स्वतः अवरुद्ध हो जाते हैं—यह जानना चाहिये।

यहाँ 'श्वास-प्रचार' से वायु का नासिका द्वारा ग्रहण-त्याग (अर्थात् श्वास-निश्वास) विवक्षित है। श्वास=नासा में बाह्य वायु का प्रवेश; निश्वास=अन्तःस्थित वायु का बहिः निःसारण (ज्योत्स्ना ४।२१; निश्वास

के लिए प्रश्वास शब्द बहुत्र प्रयुक्त हुआ है)। तुल० अजस्रनिश्वासो रेचनम् (देवल का वाक्य, मोक्षकाण्ड पृ० १७ में उद्धृत)।

यद्यपि सभी संस्करणों में निर्वात शब्द दृष्ट होता है, पर प्रकृत शब्द निवात है; द्र० गीता ६।१९ 'यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता'। किसी स्थान में आँधी आने से पहले वायु की अल्पता के कारण वायु का जो स्थिर भाव लक्षित होता है, अथवा अन्य कारणों से भी जो ऐसा स्थिर भाव होता है, वह निवात है। निवात वायु का सर्वथा अभाव नहीं है क्योंकि वायु न रहने पर दीप जल ही नहीं सकता—यह ज्ञातव्य है।

उन्मन्यवस्थाधिगमाय[१] विद्व-
न्नुपायमेकं तव निर्दिशामि।
पश्यन्नुदासीनदृशा प्रपञ्चं
संकल्पमुन्मूलय सावधानः ॥१९॥

[१. उन्मन्यवस्थामधिगम्य (पाठा०)--यह भ्रष्ट पाठ है। 'अधिगम्य' के साथ 'निर्दिशामि' का अन्वय नहीं हो सकता। दोनों क्रियाओं के कर्ता भिन्न हैं, अतः ल्यबन्त 'अधिगम्य' का प्रयोग असंगत ही है।]

अनुवाद--हे विद्वान (=अध्यात्मविद्या के ज्ञाता), उन्मनी-नामक अवस्था की प्राप्ति के लिए आपको एक उपाय का निर्देश करता हूँ; आप उदासीन दृष्टि से इस प्रपञ्च को देखते हुये सावधान होकर इस प्रपञ्च का उन्मूलन करें।

व्याख्या--उन्मनी-अवस्था का अधिगम प्राणवायु के सुषुम्ना-वाहिनी होने पर होता है (ज्योत्स्नाटीका ४।२०); इस अवस्था में योगी स्वरूप-स्थित होता है (ज्योत्स्नाटीका ४।२१) उन्मनी-अवस्था को मन का लय भी कहा जाता है। मन का लय = मन का आत्माकार होना (ज्योत्स्नाटीका ४।५९)।

प्रपञ्च शब्द का अर्थ है--विस्तृत दृश्य। इस शब्द से 'प्रतिक्षण-परिणामी अनित्य, सीमाहीन विचित्र विषय' समझा जाता है।

उदासीन दृष्टि का अभिप्राय है— आसक्तिहीन अर्थात् राग द्वेष-हीन दृष्टि। 'उद्'-उपसर्ग से ऊर्ध्वभाव द्योतित होता है; यह ऊर्ध्वस्थता तभी सम्भव है जब विषयज्ञाता जीव अपनी सत्ता को विषयसत्ता से पृथक् समझे। इस प्रकार समझना तभी सम्भव होता है जब राग-द्वेष से प्रभावित न होकर प्रपञ्च को देखने की शक्ति हो, प्रपञ्च का ज्ञानपूर्वक व्यवहार करने की सामर्थ्य हो। भ्रूमध्य दृष्टि का अभ्यास इस उदासीन भाव का सहायक है।

संकल्प का मूल स्वरूप है—चित्त में कल्पित या स्मृत किसी क्रिया में अस्मिता का प्रयोग। यह सभी कामों(=कामनाओं) का मूल है कामों का उच्छेद संकल्पवर्जन से ही सम्भव है—'संकल्पप्रभवान् कामान् त्यक्त्वा सर्वानशेषतः' (गीता ६।२४); 'संकल्पात् कामः संभवति' (मोक्षकाण्ड पृ. ८१ में उद्धृत हारीत-वाक्य), 'काम जानामि ते मूलं संकल्पात् किल जायसे'; 'कामं संकल्पवर्जनात्' (शान्तिपर्व ३०१।५६) आदि वाक्य इस प्रसंग में स्मरणीय हैं। रागादि संकल्पनिमित्तक हैं—यह न्यायसूत्र (३।१।२६) में कहा गया है। सूत्र-व्याख्याकारों के अनुसार 'संकल्प' आकाङ्क्षाविशेष, मिथ्याज्ञानविशेष, अशोभन को शोभन समझना रूप कल्पना (जो भ्रम ही है) है।

सावधान = अवधान के साथ। आत्म-विस्मृति न होना, दूसरे शब्दों में 'अपने द्रष्टृ-भाव को लक्ष्य करते रहना' अवधान है।

प्रसह्य संकल्पपरम्पराणां
संछेदने[1] सन्ततसावधानम्[2]।
आलम्बनाशादपचीयमानं[3]
शनैः शनैः शान्तिमुपैति चेतः ॥२०॥

१. संभेदने (पाठ०)--यह पाठ भी संगत है।
२. सावधानः (पाठ०)। 'सावधानः' पाठ करने पर इस श्लोक के

उत्तरार्ध के साथ इसका अन्वय नहीं हो सकता और पूर्वार्ध का वाक्य असंपूर्ण रह जाता है। 'सावधानः' का अन्वय १९ वें श्लोक के उत्तरार्ध के साथ हो सकता है; पर क्या ऐसा करना उचित होगा?

३. अपनीयमानम् (पाठा०)। 'अपनीयमानं चेतः' कहने का कोई सार्थक्य नहीं है, अतः यह पाठ असंगत है। आलम्बनादावपचीयमाने (पाठा०)— आलम्बनादि के ह्रास या क्षय होने पर। आलम्बन का ग्रहण और त्याग होते हैं; यह त्याग वस्तुतः ह्रास नहीं है, अतः यह पाठ भी संगत नहीं प्रतीत होता।]

अनुवाद--जो चित्त संकल्पों की धारा का बलपूर्वक छेदन करने में निरन्तर सावधान (स्मृतियुक्त) है तथा आलम्बन के नाश के कारण अपचययुक्त क्षयशील (अर्थात् विक्षेपहीन, विषय-लोलताशून्य) है, वह धीरे-धीरे शान्ति को प्राप्त होता है।

व्याख्या--शान्त चित्त के विषय में निम्नोक्त श्रौत उपमा द्रष्टव्य है— यथा निरिन्धनो वह्निः स्वयोनावुपशाम्यति। तथा वृत्तिक्षयाच् चित्तं स्वयोनावुपशाम्यति॥ (मैत्रायणी आर० ६।३४)। संकल्प-छेदन = संकल्प न करना।

निश्वासलोपैर्निभृतैः[1] शरीरैर्
नेत्राम्बुजैरर्धनिमीलितैश्च[2] ।
आविर्भवन्तीममनस्कमुद्राम्[3]
आलोकयामो मुनिपुङ्गवानाम् ॥२१॥

[१. विधृतैः (पाठा०)। ऐसा प्रतीत होता है कि जब 'निभृतैः' पाठ का सार्थक्य अज्ञात-सा हो गया तब यह पाठ कल्पित किया गया।

२. नेत्राञ्जनैरर्धनिमीलितैश्च (पाठा०)। यह पाठ भ्रष्ट है क्योंकि नेत्र का अञ्जन अर्धनिमीलित नहीं हो सकता।

३. आविर्भवन्तीह मनस्कमुद्राम् (पाठा०)। इसका पदच्छेद 'आविर्भवन्ति इह' करने पर कोई संगति नहीं होती। 'आविर्भवन्ती इह' करके पद

'आविर्भवन्ती' विशेषण का कोई विशेष्य नहीं मिलता। 'मनस्क' नामक कोई मुद्रा भी नहीं है। अतः यह पाठ शुद्ध नहीं है।]

अनुवाद--निश्वास का लोप, शरीर की विस्पन्दता तथा नेत्रपद्मों का अर्धनिमीलन होने पर श्रेष्ठ मुनियों में जो अमनस्क मुद्रा का आविर्भाव होता है, हम उसका दर्शन करते हैं।

व्याख्या--अमनस्क भाव में स्थित व्यक्ति के स्वरूप के विषय में अमनस्क-योग २।८१-९१ विशेषतः द्रष्टव्य है।

'निश्वास का लोप' से पूर्ण श्वासक्रिया का लोप समझना चाहिये। वायु-ग्रहण रूप निश्वास (ज्योत्स्नाटीका ४।११२) नहीं होगा तो वायु का बहिः निःसारणरूप उच्छ्वास (या प्रश्वास) भी नहीं होगा। (निःश्वास शब्द भी क्वचित् प्रयुक्त होता है निश्वास के लिए; निःश्वासो निःसारणम्, योगचिन्ता० पृ० १७६)। 'निश्वासलोपैः' आदि शब्दों में जो तृतीया है वह 'इत्थम्भूतलक्षणे' (अष्टा० २।३।२१) सूत्र से है। निश्वासलोप आदि ज्ञापक हेतु हैं।

शरीर का विशेषण 'निभृत' दिया गया है। निश्चल, निष्कम्प, स्थिर अर्थों में निभृत शब्द का प्रयोग प्राचीन ग्रन्थों में मिलता है (कुमारसंभव ३।४२; शाकुन्तल १।८)। प्राणस्थैर्य से शारीरिक स्थैर्य भी होता है; मन की स्थिरता प्राण की स्थिरता का हेतु है।

आत्मस्थ होने पर नेत्र की अर्धनिमीलित स्थिति होती है (ह० यो० प्र० ४।४१)। प्रयत्नशून्यता (=निरायाम)-पूर्वक स्थैर्य होने पर ऐसा ही होता है—यह ज्ञातव्य है।

अमी यमीन्द्राः[1] सहजामनस्का[2]
देहे ममत्वे[3] शिथिलायमाने।
मनोऽतिगं मारुतवृत्तिशून्यं
गच्छन्ति भावं गगनावशेषम्[4] ॥२२॥

। १. अमी हि चेन्द्राः (पाठा०) इन्द्राः शब्द का कोई स्वारस्य नहीं है; यह भ्रष्ट पाठ है।

२ सहजामनस्कात् (पाठा०)—सहज-अमनस्क के कारण। पर तब भाव-प्रधान निर्देश मानकर अमनस्क से अमनस्कत्व रूप अर्थ लेना होगा।

३. ममत्वम् (पाठा०)—यह लिपिकर-प्रमादजनित पाठ है। अहंममत्वे (पाठा०)—इस पाठ में जो एकवचन है वह सुसंगत नहीं है।

४. मनोगतिं मारुतवृत्तिशून्यां गच्छन्त्यगम्यां गमनावशेषाम् (पाठा०)—जो वायुवृत्तिहीन गमनावशेष अगम्य मनोगति है, उसको प्राप्त करते हैं। मनोगति का 'मन का चरम लक्ष्य' अर्थ करके तथा 'अगम्या' का 'दुष्प्रापा' अर्थ करके इस पाठ को भी संगत माना जा सकता है। पर 'गमनावशेषा' का तात्पर्य क्या होगा ?।

अनुवाद—सहज (=स्वाभाविक) अमनस्क अवस्था प्राप्त होने के कारण देह में ममत्व जिनका शिथिल हो गया है, ऐसे श्रेष्ठ योगी मन का अगोचर तथा वायुवृत्ति (=प्राण) से शून्य आकाशमात्ररूप (असीम) भाव को प्राप्त करते हैं।

व्याख्या—अमनस्क का विशेषण सहज (सह+ज) है। यह विशेषण बहुत ही प्रसिद्ध है। इसका तात्पर्य निरायासता से है—प्रयत्न के विना उदित होना—स्वयमेव उत्पद्यते—'उत्पद्यते निरायासात् स्वयमेवोन्मनी (ह० यो० प्र० ११४१)।

भाव के तीन विशेषण हैं (१) मनोतिग, (२) मारुतवृत्तिशून्य तथा (३) गगनावशेष। मनोऽतिग = मन की वृत्ति का अतिक्रमण करने वाला अर्थात मन का अगोचर।

मारुतवृत्ति-शून्य = प्राणवायु की वृत्तियों (=क्रियायों) से विरहित। प्राण की क्रियायें प्रसिद्ध हैं। प्राण पाँच रूपों में अपने को विभक्त करके शरीर

का विधारण (= निर्माण वर्धन, पोषण) करता है। ये पाँच रूप हैं--प्राण, उदान, व्यान, समान तथा अपान। हठयोग के ग्रन्थों मे इन पांचों की क्रियाओं का विशद विवरण मिलता है।

गगनाविशेष—गगन=आकाश। आकाश जिस प्रकार अमूर्त तथा बाधाहीन है, यह भाव उसी प्रकार का है--यह अभिप्राय है[1]; तुल० शून्य, अतिशून्य, महाशून्य (ह० यो० प्र० ४।७१-७४)।

निवर्तयन्तीं निखिलेन्द्रियाणि[1]
प्रवर्तयन्तीं परमात्मयोगम्।
संविन्मयीं तां सहजामवस्थां
कदा गमिष्यामि गतान्यभावः[2]।२३।।

[१. निभृतेन्द्रियाणाम् (पाठा०)--भ्रष्ट पाठ है, क्योंकि षष्ठीविभक्ति का का कोई स्वारस्य नहीं है।

२. गतान्यभागः (पाठा०) = गत हुआ है अन्य भाग जिसका, वह (बहुव्रीहि)। यह मैं (अहम्) का विशेषण है। इस विशेषण की सगति नहीं है।]

अनुवाद—सभी इन्द्रियों को निवृत्त करने वाली, परमात्मयोग की प्रवर्तिका तथा संविन्मयी उस सहज अवस्था को कब मैं अन्य भावों को छोड़ कर प्राप्त करूंगा।

---

१. 'आकाश-सदृश' होने पर भी वस्तुतः आकाश की तरह बहुयोजनव्यापी नहीं है। उपमा जिसकी विवक्षा के लिए दी जाती है, उसका ही ग्रहण करना चाहिए द्र०—'आकाशवत् सर्वगतश्च नित्य इत्यपि प्रसिद्धमहत्त्वेन आकाशेन उपमानं क्रियते निरतिशयमहत्त्वाय, नाकाशसमत्वाय। यथेषुरिव सविता धावति इति क्षिप्रगतित्वाय उच्यते, नेषुतुल्यगतित्वाय तद्वत्' (शारीरकभाष्य २।१।७)।

व्याख्या--परमात्मयोग--परमात्मा के साथ संयोग। 'आत्मयोग' शब्द भी योगग्रन्थों में प्रयुक्त होता है। तुल० अध्यात्मयोग (कठ-उप० १।२।१२)। योग=चित्त का किसी अभीष्ट पर समाधान (=समाहित होना)।

प्रत्यग्विमर्शातिशयेन पुंसां
प्राचीनसंगेषु[1] पलायितेषु।
प्रादुर्भवेत्काचिदजाड्यनिद्रा[2]
प्रपञ्चचिन्तां परिवर्जयन्ती[3] ॥२४॥

[१ प्राचीनगन्धेषु (पाठा०)। 'संबन्ध' 'सम्पर्क' 'संयोग' अर्थ में गन्ध शब्द का उल्लेख कोशों में मिलता है; पर संग अर्थ में इसका प्रयोग शायद ही कहीं मिलता हो।

२ प्रादुर्भवत् क्वापि न जाड्यनिद्रा पाठा०)— भ्रष्ट पाठ। 'क्वापि' की कोई संगति नहीं है।

३. प्रपञ्च एको विलयं प्रयाति (पाठा०)--यदि यह मूल पाठ हो तो इसे एक स्वतन्त्र वाक्य मानना होगा। प्रपञ्च का 'एक' विशेषण क्यों दिया गया—यह विचारणीय है। प्रपञ्च का विलय होना शास्त्रसंमत है।]

अनुवाद—प्रत्यगात्मसंबन्धी विमर्श के अतिशय के कारण जीवों की प्राकृतन विषयासक्ति हट जाती है (नष्ट हो जाती है)। ऐसा होने पर एक प्रकार की अजाड्यनिद्रा का आविर्भाव होता है तो प्रपञ्च विषयक चिन्तन का परित्याग-कारिणी है।

अनुवाद--प्रत्यक् (प्रति + अञ्चधातु + क्विप् प्रत्यय) शब्द की प्रायेण दो व्याख्यायें की जाती हैं--(१) प्रत्येक वस्तु में अनुस्यूत; (२) विपरीत भाव का ज्ञाता। आत्मा में प्रत्यक्शब्द उपर्युक्त दोनों अर्थों में प्रयुक्त होता है (यथायोग्य स्थलों में); कहीं कहीं स्पष्टता के लिए प्रत्यगात्मा या प्रत्यक्-चेतन शब्द भी प्रयुक्त होता है।

अजाड्यनिद्रा—निद्रा (=सुषुप्ति) तमोगुण-प्रधान है—प्रस्वापनं तु तमसा (भागवत ११।२५।२०)। श्लोकोक्त निद्रा जाड्यहीन है, अर्थात् तत्त्वतः यह निद्रा नहीं है। निद्रा का बाह्य सादृश्य मात्र इसमें है, अतः निद्रा शब्द का प्रयोग किया गया है। निद्रा की स्थिरता, आयासहीनता एवं विश्रान्ति —इस 'निद्रा' में भी हैं; साथ ही इसमें आत्मबोध अनावृत रहता है, अतः यह अजाड्यनिद्रा है। इसका नामान्तर 'योगनिद्रा' है। यह निद्रा जाग्रत्-स्वप्न से विलक्षण है--यह स्पष्टतया जानना चाहिये। 'प्रादुर्भवेत्' में प्रादुस् अव्यय है जो प्राकाश्यवाचक है (गणरत्न० १।१५)--प्रादुर्भवेत्=प्रकाशितो भवेत्।

योगनिद्रा में मनोगति आत्माभिमुख ही रहती है; अतः 'प्रपञ्चचिन्तां-परिवर्जयन्ती' कहा गया हैं। निद्रा के विभिन्न भेदों के लिए मेरा 'निद्रा या सुषुप्ति' ग्रन्थ द्रष्टव्य है।

विच्छिन्नसंकल्पविकल्पमूले
निःशेषनिर्मूलितकर्मजाले।
निरन्तराभ्यासनितान्तभद्रा[1]
सा जृम्भते[2] योगिनि योगनिद्रा ॥२५॥

[१. निरन्तराभ्यासिनि नित्यभद्रे (पाठा०)। इस पाठ में इन दोनों पदों को 'योगिनि' का विशेषण मानना होगा। यह विशेषण असंगत नहीं है, पर हमारी दृष्टि में योगनिद्रा के विशेषण के रूप में 'निरन्तराभ्यासनितान्तभद्रा' का उल्लेख करना अधिक समीचीन है।

२. विराजते (पाठा०)]

अनुवाद—जिन योगी में संकल्प और विकल्प का मूल नष्ट हो गया है तथा जिसके सभी कर्म पूर्णतया समूल नष्ट हो गये हैं उनमें निरन्तर-अभ्यास-हेतुक नित्यमङ्गलकारिणी योगनिद्रा प्रकाशित होती है।

व्याख्या –'निर्मूलितकर्मजाल' कहने का तात्पर्य है—प्रारब्धकर्म का भी निर्मूल होना। देहारम्भक कर्म का भी नाश योग से होता है, यह ज्योत्स्नाटीका (३।८२) में [विष्णुधर्मपुराण (यह अमुद्रित है) का वाक्य उद्धृत कर] प्रतिपादित हुआ है। कर्मनाश-सम्बन्धी विशेष विचार के लिए विज्ञानभिक्षुकृत सांख्यसार का प्रथम परिच्छेद द्रष्टव्य है।

विश्रान्तिमासाद्य तुरीयतत्त्वे[1]
विश्वाद्यवस्था-त्रितयोपरिस्थे[2] ।
संविन्मयीं कामपि सर्वकालं
निद्रां सखे[3] निर्विश निर्विकल्पाम् ।।२६।।

[१. तुरीयतल्पे (पाठा०) (तल्प = शय्या)। प्रतीत होता है कि 'विश्रान्ति' शब्द को देखकर किसी ने तल्प शब्द का प्रयोग कर दिया है। 'तत्त्व' पाठ ही उचित है, क्योंकि वही 'विश्वाद्यवस्थात्रित्रयोपरिस्थ' है।

२. सर्वकालाम् (पाठा०)। इस पाठ को मानने पर यह 'निद्राम्' का विशेषण होगा ('संविन्मयीम्' की तरह), जिसकी कोई आवश्यकता नहीं है। क्रियाविशेषण के रूप में 'सर्वकालम्'-पाठ अधिक संगत है।

३. भज (पाठा०)। इस पाठ में दो क्रियापद (भज तथा निर्विश) होते हैं, जिनकी कोई सार्थकता नहीं है। इस पाठ में छन्दोदोष भी होता है।]

अनुवाद--हे सखा, विश्व आदि तीन अवस्थाओं के अतीत तुरीय तत्त्व मे विश्राम लाभ करके (अर्थात् उसमें संस्थित होकर) निर्विकल्प, संवित्मयी एवं अनिर्वचनीय अवस्था रूप निद्रा (अर्थात् योगनिद्रा) के सुख का सदैव अनुभव करो।

व्याख्या--आत्मा को तुरीय मानने की परम्परा बहुत प्राचीन है (तुरीय= चतुर्थ)। माण्डूक्य उपनिषद् (३–७) में स्थूल-सूक्ष्म क्रम से आत्मभाव को चार भागों में बाँटा गया है--विश्व (जाग्रत्-अवस्था-सम्बन्धी),

तैजस (स्वप्न-अवस्था-सम्बन्धी), प्राज्ञ (सुषुप्ति-अवस्था-सम्बंधी) तथा तुरीय (स्वरूपस्थ-आत्म-सम्बन्धी) ।

तुरीयतत्त्व का निर्देश ह० यो० प्र० ४।४८ में है तुरीय-स्थिति शिवरूप ईश्वर की है अथवा सुखरूप आत्मा की है । आत्माकार या शिवाकार वृत्ति ही इस अवस्था में रहती है, अतः इसमें चित्त के वैषयिक चाञ्चल्य का सर्वथा अभाव हो जाता है—यह मृत्यु या काल की अतीत स्थिति है ।

योगनिद्रा की स्थिति विकल्पहीन है अर्थात् आत्मविषयक कोई भी भ्रान्त धारणा इस अवस्था में नहीं रहती ।

प्रकाशमाने परमात्मभानौ
नश्यत्यविद्यातिमिरे समस्ते ।
अहो बुधा निर्मलदृष्टयोऽपि
किञ्चिन्न पश्यन्ति जगत् समग्रम् ।।२७।।

अनुवाद—अहो ! परमात्मा-रूप सूर्य का उदय तथा अविद्या रूप पूर्ण अन्धकार का नाश होने पर विद्वान् (=आत्मज्ञ) निर्मलदृष्टियुक्त होने पर भी समस्त जगत् में कुछ भी नहीं देख पाते हैं ।

व्याख्या--हठयोग के प्रतिपादक ग्रन्थों में परमात्मा शब्द प्रयुक्त होता है—द्र० ह० यो० प्र० ४।१०१; योगियाज्ञवल्क्य ९।१० ।

परमात्मा सबका प्रकाशक (निर्विकार रूप से) है, इसलिये भानु का दृष्टान्त दिया गया । तुल० तस्य भासा सर्वमिदं विभाति (श्वेताश्व० ६।१४) । अन्धकार के कारण वस्तुओं का ज्ञान नहीं हो पाता; अविद्या के कारण वस्तु का तत्त्वज्ञान नहीं होता, इसलिये अविद्या के साथ तिमिर (= अन्धकार) का प्रयोग पूर्वाचार्य करते हैं । इस श्लोक से यह ध्वनित होता है कि दर्शन-क्रिया के लिए सूर्यलोक, अन्धकारनाश तथा दृष्टिशक्ति--ये तीन आवश्यक हैं ।

किञ्चिन्न पश्यन्ति--जगत् सत्ता का कोई ज्ञान उनमें नहीं रहता--यह इस वाक्य से जाना जाता है।

सिद्धिं तथाविधमनोविलयां समाधौ[1]
श्रीशैलश्रृङ्गकुहरेषु कदोपलप्स्ये[2]।
गात्रं यदा[3] मम लताः परिवेष्टयन्ति[4]
कर्णे यदा[5] विरचयन्ति[6] खगाश्च नीडम्॥२८॥

[१. समर्थाम् (पाठा०)--इस विशेषण का कोई स्वारस्य नहीं है।

२. कदोपलभ्ये पाठा०)। यह भ्रष्ट पाठ है।

३ कदा पाठा०)। इस पाठ में भी अर्थसंगति होती है। २, ३, ४ चरणों में 'कदा' पाठ मानकर 'कब ऐसी ऐसी स्थिति होगी' यह अर्थ किया जा सकता है।

४. गात्रे यथामरलताः पाठा०)--यह अशुद्ध पाठ है।

५. द्र० टि० ३।

६. विरचन्ति (पाठा०)। इस पाठ में छन्दोदोष होता है तथा यह व्याकरणदुष्ट शब्द है।

अनुवाद--(साधक स्वयं को कह रहे हैं) श्री शैलपर्वत की गुहा में रह कर कब मैं समाधि में मनोलयकारिणी सिद्धि को प्राप्त करूँगा? जब लतायें मेरे शरीर का वेष्टन करेंगी तथा पक्षियाँ मेरे कान में नीडों का निर्माण करेंगी (तब उपर्युक्त सिद्धि मुझे प्राप्त होगी)।

व्याख्या--लता द्वारा गात्रवेष्टन तथा कर्ण में नीडनिर्माण--एकासन में दीर्घकाल पर्यन्त निश्चल रूप से अवस्थान करने पर ऐसी स्थिति उत्पन्न हो सकती है। इतिहासपुराण में ऐसी स्थिति का वर्णन मिलता है।[1]

---

१. जटाटवीकोटरान्ताः कृतनीडाण्डजाश्च ये। १९। लताप्रतानैः परितो वेष्टितावयवाश्च ये। शस्यानि च प्ररूढानि यदङ्गेषु चिरस्थितिः॥ ३० (काशीखण्ड अ० २२); द्र० शान्तिपर्व २६१।१३-३७ में वर्णित जाजलि का तपश्चरण।

श्रीशैलपर्वत---करनाल जिले के अन्तर्गत कृष्णा नदी के दक्षिण तीर में; कृष्णा-स्टेशन से ५० मील। यहाँ द्वादश ज्योतिर्लिङ्गों में अन्यतम लिङ्ग विद्यमान है। यह योगिजन-निवास के रूप में प्रसिद्ध है।

ब्रह्मरन्ध्रगते वायौ गिरेः प्रस्रवणं भवेत्।
शृणोति श्रवणातीतं नादं मुक्तिर्न संशयः[१] ॥२९॥

[१. कई संस्करणों में यह श्लोक नहीं मिलता। इसके प्रक्षिप्त होने की सम्भावना है। प्रस्तुत ग्रन्थ उपजाति-छन्द में रचित है। २८ वें श्लोक में अन्य छन्द (वसन्तलिक) का व्यवहार है, जिससे ज्ञात होता है कि यह इस ग्रन्थ का अन्तिम श्लोक है। २८ वें श्लोक का भाव भी ऐसा है कि इसके बाद अभ्यास के विषय में कुछ कहने के लिए रह नहीं जाता।]

अनुवाद—वायुके ब्रह्मरन्ध्र मे स्थिर होने पर गिरि का प्रस्रवण होता है (गिरि से धारा निकलती है), इस अवस्था में श्रवणातीत (=अश्राव्य) नाद सुना जाता है, अतः मुक्ति होती है—इसम कोई संशय नहीं है।

व्याख्या—ब्रह्मरन्ध्र—आधुनिक शारीर शास्त्र में यह anterior fontanelle कहलाता है; भेलसंहिता में इसे शिरस्तालु कहा गया है। शरीर में कई छिद्र (रन्ध्र) हैं; जिनमें ब्रह्मरन्ध्र दशम है--यह आयुर्वेदीय मत प्रसिद्ध है (दशमं रन्ध्रं मस्तके चोक्तम्। तद् ब्रह्मरन्ध्रमित्याहुरेके; एतानि नव स्रोतांसि नराणां बहिर्मुखानि भवन्ति, दशमं मस्तके प्रच्छन्नम्—शाङ्गधर पर आढमल्ल की टीका)। वायु की ब्रह्मरन्ध्र की ओर गति के विषय में ब्रह्मानन्द का वाक्य मननीय है—कुण्डलिनीबोधे सुषुम्नामार्गेण प्राणो ब्रह्मरन्ध्रं गच्छति; तत्र गते चित्तस्थैर्यं भवन्ति, चित्तस्थैर्ये संयमाद् आत्मसाक्षात्कारो भवति (ज्योत्स्ना १।४८)। प्राणायामाभ्यास की तृतीय अवस्था (जिसको 'उत्तम' कहा जाता है) में प्राण ब्रह्मरन्ध्र में पहुँचता है (ज्योत्स्नाटीका २।१२)।

गिरिप्रस्रवण--यह 'गिरि' क्या है, यह स्पष्ट नहीं है। संभवतः यह स्पष्ट

पाठ है। योगियाज्ञवल्क्य में 'गिरिप्रस्रवणं यथा' कहकर गिरिप्रस्रवण की उपमा दी गई है—गिरिप्रस्रवण को एक घटना के रूप में नहीं कहा गया (आमूर्ध्नो वर्तते नादो वीणादण्डवदुत्थितः। शङ्खध्वनिनिभस्त्वादौ मध्ये मेघध्वनिर्यथा ॥५७। व्योमरन्ध्रगते नादे गिरिप्रस्रवणं यथा, ६।५७–५८ क०)। तुल० मेरुशृङ्गे स्थितश्चन्द्रो द्विरष्टकलयान्वितः। अहर्निशं त्वसौ आत्मसुधां वर्षत्यधोमुखः। (योगचिन्ता० पृ० १०७ में उद्धृत अमृतसिद्धि-नामक योगग्रन्थ का वाक्य)। क्या गिरि = पूर्णगिरि है ? (द्र० योगचि० पृ० १२२)।

जो ध्वनि आघातजन्य नहीं होती वह इस शास्त्र में नाद कहलाती है (नाद = अनाहतध्वनि; ज्योत्स्नाटीका ३।६४।[1]

नमो योगाय योगेश्वराय च



---

१. निम्नोक्त श्लोक कुछ संस्करणों में अन्तिम श्लोक के रूप में पठित हुआ है—

विचरतु मतिरेषा निर्विकल्पे समाधौ
कुचकलसयुगे वा कृष्णसारेक्षणानाम्।
चरतु जडमते वा सज्जनानां मते वा
मतिकृतगुणदोषा मां विभुं न स्पृशन्ति।

[अवश्य ही यह श्लोक अर्वाचीन काल में संयोजित हुआ है। प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रतिपाद्य विषय से श्लोकोक्त दृष्टि की संगति नहीं है]

परिशिष्ट

योगतारावली तथा उसकी व्याख्या में प्रयुक्त प्रमुखशब्दों की सूची

(शब्द के बाद दी गई संख्या ग्रन्थगत श्लोक की संख्या है)

हमारे अन्य महत्वपूर्ण प्रकाशन

1.	सांख्यदर्शन : विज्ञानभिक्षुभाष्य व हिन्दी अनुवाद सहित सम्पादक—रामशंकरभट्टाचार्य, चतुर्थ संस्करण	50.00
2.	कातंत्र व्याकरण : सम्पादक—आर० एस० सैनी	150.00
3.	व्याकरणभूषणम्-सम्पूर्ण-सम्पादक—विद्यानिवासमिश्र	150.00
4.	हिन्दूधर्म : मानसिंह	60.00
5.	श्रमण संस्कृति का दार्शनिक विवेचन—जगदीशदत्त दीक्षित	60.00
6.	ताराभक्ति सुधार्णव : आर्थर एँवालान	200.00
7.	योगिनी तंत्र : विश्वनारायण शास्त्री	125.00
8.	ईशानशिवगुरूदेव पद्धति—पं० टी० गणपतिशास्त्री चार भाग में सम्पूर्ण	800.00
9.	धर्म का उद्भव और विकास—तुलसीराम शर्मा	100.00
10.	ईशावास्योपनिषद् - शांकरभाष्य तथा विस्तृत हिन्दी अनुवाद सहित—शशि तिवारी	40.00